अनुबोधन, खण्ड 1, अंक 4, दिसम्बर 2025, पृष्ठ 100–111
**ISSN: 3049-4184 (प्रिन्ट), 3108-1185 (ऑनलाइन)**
**प्रकाशित: 31 दिसम्बर 2025**
जर्नल वेबसाइट: **https://anubodhan.org**
**DOI: 10.65885/anubodhan.v1n4.2025.035**

# भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद विमर्श: एक समीक्षात्मक विश्लेषण

**डॉ. हरि नारायण***

**सारांश**

*ज्ञान से विषय का प्रकाशन होता है, किंतु यहां सबसे प्रमुख समस्या उत्पन्न होती है कि विषय का जो प्रकाशन हो रहा है वह यथार्थ है या यथार्थ इसका निर्धारण किस प्रकार होगा? हम अपने दैनिक जीवन में यह अनुभव करते हैं कि हमारे बहुत सारे ज्ञान यथार्थ (विषय के अनुरूप) होते हैं लेकिन कई बार हमारा ज्ञान भ्रामक(अयथार्थ) भी हो जाता है जो विषय के अनुरूप नहीं होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि कोई ज्ञान यथार्थ या अयथार्थ किन कारणों से होता है। भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान के स्वरूप तथा ज्ञान प्राप्ति के साधन (प्रमाणों) के निरूपण के साथ-साथ ज्ञान की यथार्थता(प्रामाण्य)और अयथार्थता(अप्रामाण्य) के विषय में गंभीरतापूर्वक विचार किया है। भारतीय दर्शन में यथार्थ ज्ञान को प्रमा और अयथार्थ ज्ञान को अप्रमा कहा गया है। यहां मुख्य प्रश्न यह है कि क्या ज्ञान प्रमाण रूप ही उत्पन्न होता है? या किसी अन्य ज्ञान के द्वारा उसकी प्रामाणिकता को सुनिश्चित किया जाता है? प्रामाण्यवाद के सिद्धांत में इसी प्रश्न पर गहनता से विचार किया जाता है। प्रस्तुत आलेख में भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद से संबंधित विभिन्न विमर्शों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।*

**मुख्य शब्द:** *प्रामाण्य, अप्रामाण्य, ज्ञप्ति, ज्ञातता, अनुव्यवसाय, त्रिपुटी प्रत्यक्ष, प्रवृत्ति सामर्थ्य, सत्कार्यवाद।*

---

*सहायक आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, बलि राम भगत महाविद्यालय, समस्तीपुर, बिहार

## प्रस्तावना

किसी भी प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान यथार्थ या सत्य माना जाता है उसके प्रमाण या आधार को प्रामाण्य कहा जाता है। अतः प्रामाण्यवाद का संबंध प्रमाणों की प्रामाणिकता से है अर्थात जिस प्रमाण से हम ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं उसमें प्रामाण्य है या नहीं, अर्थात वह ज्ञान यथार्थ है या अयथार्थ। किसी ज्ञान की यथार्थता या अयथार्थता का प्रमाण प्रामाण्यवाद का विषय है। भारतीय दर्शन में दो प्रकार के प्रामाण्य का विवेचन मिलता है.. स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य। इसी तरह अप्रामाण्य भी दो प्रकार का होता है। स्वतः प्रामाण्यवाद का अर्थ है कि जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उन्हीं कारणों से उसकी प्रामाणिकता भी निर्धारित होती है। ज्ञान के कारण तथा उसकी प्रामाणिकता के कारण भिन्न-भिन्न न होकर एक ही होते हैं। इसके विपरीत परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उन्हीं से प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं होती बल्कि किसी अन्य ज्ञान के माध्यम से उसके प्रामाण्य की पुष्टि होती है। इसी प्रकार स्वतः अप्रामाण्यवाद का अर्थ है कि किसी भी ज्ञान के अप्रामाण्य का ज्ञान उन्हीं कारणों से होता है जिनसे उस ज्ञान का ज्ञान होता है और परतः अप्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान के अप्रामाण्य का ज्ञान उन्हीं कारणों से न होकर अन्य कारणों से होता है।

सर्वप्रथम इस प्रामाण्य की चर्चा किस आचार्य ने आरंभ की यह निश्चित रूप से कह पाना कठिन है, लेकिन भारतीय दर्शन के ग्रंथों के अनुशीलन से यह अवश्य ही प्रतीत होता है कि वेदों की प्रमाणिकता को सिद्ध करते हुए संभवतः सर्वप्रथम जैमिनी मुनि ने अपने 'मीमांसासूत्र' में प्रामाण्यवाद के विचार का बीज-वपन किया था। न्याय- वैशेषिक, सांख्य- योग, वेदान्त आदि वैदिक संप्रदायों तथा जैन, बौद्ध आदि अवैदिक संप्रदायों में प्रामाण्य का निरूपण इसके पश्चात ही शुरू हुआ। आठवीं सदी के अनंतर लिखे गए टीका ग्रंथों तथा मौलिक प्रकरण ग्रंथों में तो प्रामाण्यवाद का महत्वपूर्ण स्थान हो गया। फलतः उत्तर कालीन सभी दार्शनिक ग्रंथों में संक्षेप या विस्तार से प्रामाण्यवाद का निरूपण उपलब्ध होता है। आगे भारतीय

दर्शन के विभिन्न संप्रदायों में प्रामाण्यवाद के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

**पूर्वमीमांसा दर्शन में प्रामाण्यवाद**

मीमांसक मानते हैं कि ज्ञान के साथ ही प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता है तभी उस ज्ञान में प्रवृत्ति होती है। अतः ये स्वतः प्रामाण्य को मानते हैं। इनके अनुसार सभी ज्ञान स्वभावतः प्रामाणिक होते हैं। कुमारिल भट्ट के अनुसार जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उन्हीं कारणों से प्रामाण्य की भी उत्पत्ति होती है, प्रामाण्य की सिद्धि के लिए कारण के गुणों की अपेक्षा नहीं होती। कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि ज्ञान विषय का प्रकाशक होता है किंतु स्वयं को प्रकाशित नहीं करता, स्वयं में अतींद्रिय होता है। इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है किंतु ज्ञान उत्पन्न होने से विषय में ज्ञातता नमक एक नए धर्म की उत्पत्ति होती है और इस ज्ञातता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है क्योंकि विषय हमें ज्ञात हो जाता है।ज्ञान की उत्पत्ति (अर्थबोध/ज्ञातता) के बाद अर्थापत्ति या अनुमान से ज्ञान का ग्रहण (ज्ञप्ति) होता है और उसी के साथ प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। ज्ञान के ग्रहण के पूर्व भी प्रामाण्य को स्वरूपतः ज्ञान में स्थित माना जाता है। अतः मीमांसा दर्शन के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रमाण है, लेकिन उसका अप्रामाण्य बाह्य कारणों से निर्धारित होता है। बाद में अन्य ज्ञान से बाध होने या कारण-दोष (प्रकाश की मन्दता,इंद्रियों की अपटुता आदि दोष) का पता चलने पर यह ज्ञान अप्रामाण्य हो सकता है लेकिन जब तक ये दोनों कारण नहीं उपस्थित होते, तब तक ज्ञान प्रामाण्य ही रहता है। अतः मीमांसक परतः अप्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। जब बाधक ज्ञान( विपरीत ज्ञान) उपस्थित होता है तो प्रथम ज्ञान का अप्रामाण्य साक्षात रूप से होता है (जैसे- शुक्ति में पहले ' यह रजत है' ऐसा ज्ञान होता है फिर बाद में उसका बाधज्ञान होता है कि ' यह रजत नहीं है'), लेकिन जब कारण दोष का पता चलता है तो पहले कारण में दोष (चक्षु में पीलिया का असर) का ज्ञान होता है फिर कार्य (ज्ञान) में दोष का ज्ञान होता है अर्थात अप्रामाण्य अप्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है(जैसे -शंख पीला है)।

इस प्रकार कुमारिल भट्ट के इस सिद्धांत के आधार पर वेदों का स्वतः प्रामाण्य सहज ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि वेद अज्ञात अर्थ के बोधक हैं, अपौरुषेय हैं,अतः कारण के दोषों की शंका भी उनके विषय में नहीं की जा सकती।

मीमांसा दर्शन के दूसरे मूर्धन्य आचार्य प्रभाकर भी स्वतः प्रामाण्य को ही मानते हैं लेकिन उनकी व्याख्या में थोड़ा अंतर है। प्रभाकर की मान्यता है कि जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो उत्पत्ति के साथ ही ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय तीनों का प्रत्यक्ष हो जाता है(त्रिपुटी प्रत्यक्ष) अर्थात ज्ञान स्वयं को भी प्रकाशित करता है। अतः उनके अनुसार ज्ञान की उत्पादक सामग्री ही ज्ञान की ग्राहक सामग्री भी है और ज्ञानग्राहक सामग्री ही ज्ञान के प्रामाण्य की भी ग्राहक होती है। अतः ज्ञान उत्पन्न होते ही ग्रहण भी हो जाता है (व्यवसायवाद) और प्रामाणिक भी हो जाता है।अतः जब हमें घड़े का ज्ञान होता है तो ज्ञान इस रूप में नहीं होता कि 'यह घड़ा है' या ' मैं इस घड़े को जानता हूं' बल्कि इस रूप में होता है कि ' मैं इस घड़े को प्रामाणिक रूप से जानता हूं'।

प्रभाकर के अनुसार यदि ज्ञान स्वतः प्रामाण्य है तो फिर बाद में अप्रामाण्य कैसे हो सकता है? फिर तो हर स्वतः प्रामाण्य ज्ञान में शंका बनी रहेगी,वेद ज्ञान में भी,हमेशा भ्रांति की आशंका बनी रहेगी। प्रभाकर के अनुसार विपरीत ज्ञान संभव ही नहीं है। उनके अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है 1.अनुभव 2.स्मृति। अनुभव सदा ही प्रमाण हुआ करता है और स्मृति प्रमाण नहीं होती। जिसे हम विपरीत ज्ञान कहते हैं वह विपरीत ज्ञान न होकर अनुभव और स्मृति का मिश्रण होता है। जैसे... ' यह रजत है' इस प्रकार का ज्ञान विपरीत ज्ञान नहीं है, बल्कि दो ज्ञानों का मिश्रण है। 'यह' जो स्थान बोधक है,वह अनुभव रूप है जबकि रजत स्मृति रूप।अनुभव अंश तो प्रमाण ही है, इस अंश में भ्रांति नहीं है,इसका बाध नहीं होता। रजत अंश स्मृति रूप है यह अप्रमाण है। अतः प्रभाकर के अनुसार अनुभव ज्ञान सदा स्वतः प्रमाण है इसका अप्रामाण्य होता ही नहीं। अनुभव में स्मृति के मिश्रण के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। इस प्रकार के भ्रम का कारण विवेकाग्रह अर्थात अनुभव और स्मृति में भेद न कर पाना

है। यहां विपरीत ज्ञान नहीं बल्कि एक ज्ञान की कमी रह गई है। इस प्रकार प्रभाकर अपनी व्याख्या से वेदों के स्वतः प्रामाण्य को पूरी तरह निर्दोष बनाने का प्रयास करते हैं।

मीमांसा दर्शन के एक अन्य आचार्य मुरारि मिश्र भी ज्ञान के प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानते हैं लेकिन उनकी व्याख्या भी थोड़ी अलग है जो ध्यातव्य है। न्याय मत के अनुरूप उनके मत में भी ज्ञान अनुव्यवसाय से ग्रहण होता है, अंतर केवल इतना ही है कि न्याय मत में अनुव्यवसाय से केवल ज्ञान का ग्रहण होता है, उसके प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता, किन्तु मुरारि मिश्र के मत में अनुव्यवसाय से ही ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है।

**न्याय – वैशेषिक दर्शन में प्रामाण्यवाद**

प्रमाणों के निरूपण और प्रामाण्यवाद के विवेचन में न्याय - वैशेषिक दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। गौतम के न्यायसूत्र से इस संप्रदाय का आरंभ माना जाता है। प्रमाणों से संबंधित विवेचन तो प्रारंभ से ही हुआ है, लेकिन प्रामाण्यवाद का व्यवस्थित विवेचन उद्योतकर के न्यायवार्तिक और वाचस्पति मिश्र के न्यायवार्तिक तात्पर्य-टीका में प्राप्त होता है जो न्याय शास्त्र का अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। न्यायवार्तिक में यह चर्चा की गई है कि सफल प्रवृत्ति के कारण प्रमाण से अर्थ का निश्चय होता है।न्यायवार्तिक तात्पर्य-टीका में कहा गया है कि ज्ञान का प्रमाण स्वतः निश्चय नहीं किया जा सकता। अनभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय प्रवृत्ति - सामर्थ्य के द्वारा अनुमान से किया जाता है जबकि अभ्यासदशापन्न ज्ञान को किसी यथार्थ ज्ञान ( जो पूर्व में ही प्रवृत्ति- सामर्थ्य के द्वारा प्रमाणित रूप से जाना जा चुका है) के समान होने से प्रवृत्ति- सामर्थ्य के बिना ही प्रामाणिक मान लिया जाता है।

यहां ध्यातव्य है कि न्याय दर्शन में आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति और आत्मा को उसका साक्षात्कार(ज्ञान का ग्रहण या ज्ञान का ज्ञान या ज्ञप्ति) दोनों एक ही नहीं हैं। जैसे आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति हुई कि 'यह पुस्तक है'(व्यवसाय) और आत्मा अगले क्षण इस ज्ञान का ग्रहण इस रूप में करती है कि 'इस पुस्तक का ज्ञान मुझे हुआ'(अनुव्यवसाय)। अतः आत्मा को ज्ञान

का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है, यह सर्वदा मानस प्रत्यक्ष ही होता है। लेकिन ज्ञान के ग्रहण के साथ उसके प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता है, प्रामाण्य का ग्रहण तो बाद में प्रवृत्ति- सामर्थ्य से ही होता है। जैसे किसी प्यासे व्यक्ति ने दूर से जल से देखा और उसे यह ज्ञान हुआ कि वहां जल है, उसके बाद वह जल ग्रहण को प्रवृत्त होता है,अब यदि वह जल प्राप्त कर लेता है और उसकी प्यास बुझ जाती है तो उसकी प्रवृत्ति सफल होती है और वह यह समझ लेता है कि उसका जल का ज्ञान प्रमाण है, यदि प्रवृत्ति विफल होती है अर्थात उसे जल की प्राप्ति नहीं होती है तब उसका ज्ञान अप्रमाण होता है।

जयंत भट्ट ने न्याय मंजरी और गंगेश उपाध्याय ने तत्व चिन्तामणि में प्रामाण्यवाद का विस्तृत विवेचन किया है। वैशेषिक दर्शन प्रारंभ में प्रमाण प्रधान न होकर प्रमेय प्रधान बना रहा लेकिन बाद में प्रमाणों के स्वरूप निरूपण की तरफ भी ध्यान दिया गया। 11वीं शताब्दी के बाद के अनेक ग्रंथों में न्याय और वैशेषिक सिद्धांतों का सम्मिलित रूप निरूपित किया गया है। प्रामाण्यवाद के विषय में दोनों के सिद्धांत समान ही है। दोनों उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों दृष्टियों से परतः प्रामाण्य और परतः अप्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, केवल प्रमाणों के स्वरूप विकास और प्रामाण्यवाद के विकास-क्रम की दृष्टि से दोनों का मार्ग भिन्न-भिन्न है।

जयंत भट्ट और वाचस्पति मिश्र के अनुसार प्रवृत्ति के लिए अर्थ का यथार्थ ज्ञान अनिवार्य नहीं है अपितु अर्थ की प्रतीति मात्र से ही उसमें मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है। प्रामाण्य से पहले ज्ञान का स्वरूप संशयात्मक या अनिश्चित होता है। अतः संदेह या संशय से ही सामान्य मनुष्य की ज्ञान में प्रवृत्ति हो जाती है। उस संशय से ही लौकिक जनों के समस्त व्यवहार सिद्ध हो जाते हैं, उनके लिए प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य-ग्रहण की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि मनुष्य प्रवृत्त होकर ज्ञान के अनुसार फल को प्राप्त कर लेता है तो उसकी प्रवृत्ति सफल कही जाती है यही प्रवृत्ति-साफल्य या सामर्थ्य कहलाता है। फिर निश्चित हो जाता है कि प्राप्त ज्ञान प्रमाण है। प्रवृत्ति सामर्थ्य (अर्थ क्रिया) का ज्ञान हो जाने पर प्रयोजन सिद्ध हो जाता है फिर इस प्रवृत्ति सामर्थ्य के प्रामाण्य की परीक्षा

कोई नहीं करता क्योंकि इसकी परीक्षा की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। समस्त प्राणियों का अनुभव ऐसा ही है, अतः यहां अनवस्था दोष का प्रश्न ही नहीं उठता है।

न्याय दर्शन के अनुसार मनुष्य की प्रवृत्ति दो प्रकार के पदार्थों में हुआ करती है.. दृष्ट और अदृष्ट। दृष्ट पदार्थों का हमारा ज्ञान दो प्रकार का होता है... अनभ्यासदशापन्न ज्ञान (प्राथमिक ज्ञान या प्रथम ज्ञान) और अभ्यासदशापन्न ज्ञान। दोनों प्रकार के ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य परतः ही होता है। न्याय दर्शन में वेदों द्वारा प्रतिपादित अदृष्टार्थक तत्वों जैसे.. यज्ञ विशेष,स्वर्ग,पाप-पुण्य इत्यादि को भी स्वतः प्रमाण नहीं माना जाता। पहले प्रवृत्ति-सामर्थ्य के द्वारा वेद के दृष्टार्थक भाग जैसे ..आयुर्वेद आदि के प्रामाण्य का निश्चय कर लिया जाता है फिर आप्तोक्त होने के कारण उसके समान सजातीय अदृष्टार्थ आदि के प्रतिपादक वेद-भाग का भी प्रामाण्य निश्चित कर लिया जाता है।

**बौद्ध दर्शन में प्रामाण्यवाद**

बौद्ध दर्शन का मत है कि सभी ज्ञान जो व्यवहार योग्य होते हैं अप्रामाण्य होते हैं किंतु जिस ज्ञान से अर्थक्रिया का संपादन हो जाता है वह ज्ञान प्रामाण्य मान लिया जाता है ।अतः यहां अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः होता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन की मान्यता के अनुसार सभी ज्ञान अपने स्वभाव से अप्रमा ज्ञान ही होते हैं, अर्थक्रियाकारित्व अथवा प्रवृत्ति-सामर्थ्य के आधार पर उनमें प्रामाण्य उत्पन्न होता है। अतः जब तक किसी ज्ञान से सफल प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न होती तब तक वह ज्ञान अप्रमा ही होता है। धर्मकीर्ति के अनुसार ज्ञान अपने स्वरूप का स्वयं ही ग्रहण करता है किंतु उसके प्रामाण्य का बोध व्यवहार द्वारा हुआ करता है।

मनुष्य की ज्ञान में प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है...1. प्रयोजन सिद्धि के लिए (अर्थ क्रिया के लिए) 2.प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए, दोनों ही स्थितियों में संशय होने पर भी प्रवृत्ति हो जाती है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जो अर्थ प्रदर्शित किया जाता है उसी में व्यक्ति की प्रवृत्ति हो जाती है। ज्ञान की प्रामाणिकता में संदेह हो सकता है लेकिन प्रवृत्ति

प्रमाण-निश्चय का उपाय है, इसमें व्यक्ति को संशय नहीं होता। इसलिए ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए संशय से भी प्रवृत्ति हो जाती है। प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता। इस प्रकार सामान्यतः बौद्ध दार्शनिक उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों दृष्टि से अप्रामाण्य को स्वतः और प्रामाण्य को परतः मानते हैं (सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार), लेकिन शान्तरक्षित और कमलशील का मत इससे अलग है,वे अनियम पक्ष को मानते हैं अर्थात कुछ ज्ञान में स्वतः तो कुछ में परतः प्रामाण्य होता है।कमलशील के अनुसार अर्थक्रिया ज्ञान,स्वसंवेदन प्रत्यक्ष,योगी का ज्ञान,अभ्यासदसापन्न ज्ञान,अनुमान आदि ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं क्योंकि इनमें भ्रांति का कारण विद्यमान नहीं होता।अन्य ज्ञान जैसे...वेदों का ज्ञान, अनभ्यासदासपन्न ज्ञान आदि को वे परतः प्रमाण मानते हैं। इनके प्रामाण्य का निश्चय सफल अर्थक्रिया से होता है।

**जैन दर्शन में प्रामाण्यवाद**

जैनमत में सामान्य रूप से प्रामाण्य- अप्रामाण्य दोनों को उत्पत्ति में परतः और ज्ञप्ति में स्वतः माना गया है। दोनों की उत्पत्ति के लिए ज्ञान सामान्य के कारण से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा होती है अतः उत्पत्ति में दोनों परतः हैं। प्रामाण्य की उत्पत्ति कारण के गुणों के अधीन होती है और अप्रामाण्य की दोषों के। लेकिन प्रामाण्य के ग्रहण में ज्ञान सामान्य के ग्राहक कारणों से अतिरिक्त कारण की अपेक्षा नहीं होती अतः ज्ञप्ति में दोनों स्वतः हैं। लेकिन जैन दर्शन में कहीं-कहीं अलग मत भी मिलते हैं। देवसूरि के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य उत्पत्ति में परतः होते हैं किंतु ज्ञप्ति में कहीं स्वतः तो कहीं परतः होते हैं।

हेमचंद्र सूरि आदि आचार्यों के अनुसार अर्थक्रिया ज्ञान, अभ्यासदशापन्न ज्ञान और अनुमान का प्रामाण्य-अप्रामाण्य स्वतः होता है तथा अनभ्यासदशापन्न ज्ञान(प्रथम ज्ञान) और शब्द ज्ञान का परतः होता है। यहां भी शब्द ज्ञान दो प्रकार के होते हैं दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक। जिस शब्द का बोधक अर्थ इस लोक में दिखाई देता है उसे दृष्टार्थक शब्द कहते हैं। जिस शब्द का बोधक अर्थ इस लोक में उपलब्ध नहीं होता वह

अदृष्टार्थक है,जैसे.. मुक्ति,परलोक विषयक वचन। दृष्टार्थ शब्द ज्ञान का प्रामाण्य-अप्रामाण्य संवाद (अर्थ क्रिया) से निश्चित होता है। अदृष्टार्थ शब्द ज्ञान के लिए पहले वक्ता के वचन से उत्पन्न होने वाले दृष्टार्थ ज्ञान (चंद्र ग्रहण आदि) का संवाद के द्वारा प्रामाण्य निश्चित कर लिया जाता है, इसका प्रामाण्य स्थापित हो जाने पर वक्ता को आप्त (यथार्थवक्ता) मान लिया जाता है, फिर उसका जो वचन अदृष्टार्थ विषयक होता है उसकी प्रामाणिकता वक्ता के आप्त होने के कारण ही मान ली जाती है। उसमें अन्य ज्ञान के संवाद की अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकार शब्द से उत्पन्न होने वाले सभी ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य परतः होता है। अतः शब्द प्रमाण के लिए आचार्य हेमचंद्र ने भी गौतम की ही युक्ति का अनुसरण किया है किंतु मंत्र, आयुर्वेद आदि को दृष्टांत न बनाकर ज्योतिषशास्त्र आदि को दृष्टांत बनाया है।

डॉ. धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री का कथन है कि जैन दार्शनिक अपने अनेकान्तवाद के अनुसार यह मानते हैं कि ज्ञान स्वरूपतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही हो सकता है अर्थात एक ही ज्ञान एक दृष्टि से प्रमाण और दूसरी दृष्टि से अप्रमाण हो सकता है।

**सांख्य दर्शन में प्रामाण्यवाद**

सांख्य दर्शन प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानता है या परतः, इस संबंध में सांख्य दर्शन के मूल ग्रंथों में किसी प्रकार का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। वाचस्पति मिश्र तत्त्व कौमुदी में वेद ज्ञान(दोष रहित ज्ञान) को स्वतः प्रमाण मानते हैं, लेकिन यहां अप्रामाण्य की चर्चा नहीं है।परंतु प्राचीन काल से ही विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के ग्रंथों में प्रामाण्यवाद का विवेचन करते समय जिन चार मतों का उल्लेख मिलता है, उनमें एक मत स्वतः प्रामाण्य और स्वतः अप्रामाण्य का भी है, लेकिन यह मत किसका है यह स्पष्ट नहीं किया गया है।लेकिन माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में स्पष्ट रूप से कहा है कि सांख्य दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः माना गया है। उत्तरकालीन टिप्पणियों में भी इस मत को सांख्य दर्शन का बतलाया गया है।

पुनः सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद को मानता है, अतः इस सिद्धांत के अनुसार यदि प्रमाण में प्रामाण्यशक्ति स्वतः नहीं होगी तो फिर वह किसी साधन से उत्पन्न नहीं की जा सकती। सांख्य दर्शन की यह भी मान्यता है कि ज्ञान उत्पादक सामग्री ही ज्ञान ग्राहक सामग्री है अर्थात विषय बुद्धि वृत्ति और सहकारी कारण जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है, उन्हीं सामग्रियों से ज्ञान का ज्ञान भी होता है और जब ज्ञान का ज्ञान होता है तो उसमें विद्यमान प्रामाण्य और अप्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार सांख्य दर्शन में उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों दृष्टियों से प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः माने जाते हैं।

यदि योग दर्शन की बात करें तो व्यास – भाष्य की तत्ववैशारदी नामक टीका में वाचस्पति मिश्र ने जो वेद- प्रामाण्य के विषय में विवेचन किया है उसका भाव यह है कि ईश्वर रचित जो मंत्र और आयुर्वेद हैं उनमें सफल प्रवृत्ति से ही उनकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इससे यह प्रतीत होता है कि संभवतः योग संप्रदाय में न्याय-वैशेषिक के समान सफल प्रवृत्ति से ही ज्ञानों का प्रामाण्य स्वीकार किया गया था। किंतु इस विषय में कोई विस्तृत और स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।

**वेदान्त का प्रामाण्यवाद**

वेदान्त दर्शन का मूल स्रोत उपनिषद है, जिसके अनुसार नानारूप परिवर्तनशील जगत का मूल आधार ब्रह्म है। ब्रह्म सूत्र में कहा गया है कि शास्त्र ही ब्रह्म का प्रमाण है, यह प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है। ब्रह्म मात्र को परमार्थ सत् मानने वाले शंकराचार्य के अनुसार समस्त प्रमाण- प्रमेय व्यवहार अविद्याकृत है,प्रमाणों की केवल व्यावहारिक सत्ता है, ब्रह्म प्रमाण का विषय नहीं है। शंकराचार्य शास्त्र को स्वतः प्रमाण मानते हैं।

वेदांत संप्रदाय के अभिमत प्रामाण्यवाद का संक्षिप्त एवं स्पष्ट विवेचन धर्मराजाध्वरीन्द्र कृत वेदांत- परिभाषा में मिलता है। इसमें विशेष रूप से व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान करने वाले प्रमाणों के प्रामाण्य पर विचार किया गया है। सामान्यतः वेदान्त का प्रामाण्यवाद संबंधी सिद्धांत भी पूर्व मीमांसा के समान ही है। यहां भी प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य को परतः

माना गया है। वेदांत के अनुसार किसी विशेषण से युक्त वस्तु में उस विशेषण के रूप से ज्ञान होना यथार्थ ज्ञान कहलाता है जैसे...घटत्व विशेषण से युक्त घट का ज्ञान। यहां प्रामाण्य ज्ञान की साधारण सामग्री (जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है) से ही उत्पन्न हो जाता है। वेदांत के अनुसार घट आदि के आकार में परिणत हुई जो बुद्धि वृत्ति है, वही ज्ञान है और इस ज्ञान का ग्रहण साक्षी- चैतन्य के द्वारा होता है। और ज्ञान के ग्रहण के साथ ही प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। अतः उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों दृष्टि से प्रामाण्य स्वतः होता है।

यहां अप्रामाण्य परतः होता है।ज्ञान का अप्रामाण्य ज्ञान की सामान्य सामग्री(इंद्रियार्थ सन्निकर्ष)से नहीं उत्पन्न होता है, बल्कि वह दोषों से उत्पन्न होता है। पुनः जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है, उससे उसके अप्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता। ज्ञान का ग्रहण साक्षी- चैतन्य के द्वारा होता है,जबकि अप्रामाण्य का ग्रहण अनुमान आदि के द्वारा होता है। साक्षी-चैतन्य दोषाभाव से विशिष्ट नहीं होता।अतः दोष की स्थिति में उसके द्वारा प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता और वहां संशय की स्थिति बनती है। लेकिन उस स्थिति में भी साक्षी-चैतन्य में प्रामाण्य ग्रहण की योग्यता तो रहती ही है। अतः उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों दृष्टि से अप्रामाण्य परतः होता है।

## निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन में ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के संबंध में गहन विमर्श हुआ है। प्रामाण्यवाद के सिद्धांत का सूत्रपात वेद के प्रामाण्य को लेकर वैदिक और अवैदिक दर्शनों के बीच हुए विमर्श से होता है और आगे चलकर इसका विवेचन अत्यंत गहन और तार्किक हो जाता है। भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान की उत्पत्ति,ज्ञप्ति( ग्रहण) और कार्य (अर्थबोधन) की दृष्टि से उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विस्तृत विवेचन किया है। इस संपूर्ण विवेचन का सार यही है कि पूर्व मीमांसा दर्शन ज्ञान के प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानता है, न्याय-वैशेषिक दर्शन प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मानता है। सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार बौद्ध दर्शन ज्ञान के प्रामाण्य

को परतः और अप्रामाण्य को स्वतः मानता है लेकिन कई विद्वानों के अनुसार बौद्ध दर्शन अनियम पक्ष( पांचवां पक्ष) को मानता है अर्थात प्रामाण्य-अप्रामाण्य कहीं स्वतः तो कहीं परतः होते हैं। जैन दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य उत्पत्ति में परतः होते हैं किंतु ज्ञप्ति में कहीं स्वतः तो कहीं परतः होते हैं। सांख्य दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते हैं। योग दर्शन का मत स्पष्ट नहीं है। वेदान्त दर्शन में प्रामाण्य स्वतः तथा अप्रामाण्य परतः होता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में केवल प्रमाणों का ही विवेचन नहीं है, बल्कि उस प्रमाण में प्रामाण्य है या नहीं,इसका भी अत्यंत सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है।

**संदर्भ:**


**1.** सिन्हा, नीलिमा (2016), भारतीय ज्ञान मीमांसा, मोतीलाल बनारसी दास, पृष्ठ 228-269.

**2.** दूबे, सतीश चंद्र (2002), भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद का समीक्षात्मक विवरण, शोध-प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद.

**3.** अग्रवाल, गीतारानी (2006), भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, पृष्ठ 120-140.

**4.** पाण्डेय, रमा (2011), भारतीय दर्शन में तत्वों का समस्यात्मक विवेचन, मोतीलाल बनारसी दास, पृष्ठ 9-21.

**5.** मीमांसा सूत्र 1.1.2.

**6.** डॉ. धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, भारतीय दर्शन शास्त्र, पृष्ठ 172.

**7.** प्रमाण परीक्षा, पृष्ठ 63.

**8.** न्यायमंजरी भाग 1, पृष्ठ 157, भाग 2, पृष्ठ 260, 261.

**9.** न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृष्ठ 12.

**10.** योगसूत्रव्यासभाष्य 1.1.24.

**11.** सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ 279.

**12.** डॉ. नन्द किशोर शर्मा, भारतीय दार्शनिक समस्याएं, पृष्ठ 85.


Copyright © 2025 Siri Research Foundation. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution International License (CC BY 4.0).